प्रो. नामवर सिंह

बाकलम खुद कुमारिल, खुद प्रभाकर : हिंदी के नामवर

प्रफुल्ल कोलख्यान

> ‘समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।’

प्रेमचंद

विविध प्रसंग -2 : राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

नामवर सिंह अपने समय की जीवंत बौद्धिक चुनौतियों से पूरी ताकत और शिद्दत से निरंतर जूझते रहे हैं। स्वाभाविक ही है कि नामवर सिंह पर लिखना ठट्ठा नहीं है। नामवर सिंह पर लिखना एक गहरी चुनौती भी है और अनिवार्य रूप से उठाया

जानेवाला दायित्व भी। इस संदर्भ में, समीक्षा ठाकुर के संपादन में संकलित और प्रकाशित बातचीत 'कहना न होगा' में भगवान सिंह का दिया हुआ मंतव्य सहसा याद आता है कि 'नामवर सिंह से सहमत होना कठिन है, असहमत होना खतरनाक और उन पर लिखने की कोशिश एक ऐसे तिलस्म में प्रवेश की चेष्टा जो इतना खुला हो कि उसकी दीवारें भी दरवाजे का भ्रम पैदा करें और निकट पहुँचने पर दरवाजे तक दीवारों में बदल जायें। उनमें एक ऐसी सरलता है कि वह अपने पाठकों-श्रोताओं को बिल्कुल पारदर्शी लगते हैं और इसके बावजूद कुछ ऐसा बचा रहता है जो पकड़ में नहीं आता। उनके संदर्भ में सरलता वक्रता और वक्रता सरलता का पर्याय बन जाती है। जहाँ उनकी पारदर्शिता चरम पर होती है वहीं गहराई इतनी अधिक कि असावधान रहने पर डूबने का खतरा पैदा हो जाये।' नामवर सिंह के बारे में लिखना इसलिए भी कठिन है कि गई सदी के द्वितीयार्द्ध का शायद ही ऐसा कोई साहित्यिक विमर्श हो जिस पर नामवर सिंह की कोई छाप न हो। और यह कोई पिछली सदी के द्वितीयार्द्ध की ही बात नहीं है, सामान्यत: भारतीय साहित्य और विशेषकर हिंदी साहित्य परंपरा के विकास संबंधी हिंदी ज्ञान का शायद ही ऐसा कोई प्रसंग हो जिस पर नई समझ कायम करने में नामवर सिंह का महत्त्वपूर्ण योगदान न हो। एक मुसीबत और है। जैसा कि नामवर सिंह खुद भी बताते हैं, वे साहित्य के आलोचना कर्म की वाचिक परंपरा में आते हैं। वाचिक परंपरा के इस महत्त्वपूर्ण आलोचक का काम पत्र-पत्रिकाओं में लेख, भाषणों के लिपिबद्ध रूप, बातचीत, संस्मरण, अध्यापन, विविध प्रसंग आदि के रूप में न सिर्फ बिखरा पड़ा है बल्कि उसका बहुत सारा अंश लिपिबद्ध होने से भी अभी बचा हुआ हो सकता है। एक बात और, जैसा कि वाचिक परंपरा के व्यक्ति के साथ अक्सर ही होता है, बहुत कुछ ऐसा भी हो सकता है जिसे नामवर सिंह के नाम पर चला दिया गया हो और कुछ दूर जा कर वह बात तो ठहर गई हो लेकिन उसकी छायाएँ ! आश्चर्य नहीं यदि, उन ठहरी हुई बातों की छायाएँ अपना रूप बदल-बदल कर चल ही रही हों ! साहित्यिक विमर्श में नामवर सिंह के होने का एक असर उत्प्रेरक का भी है अर्थात, जिन विमर्शों में नामवर सिंह सीधे शामिल नहीं भी रहते हैं उन विमर्शों में भी हिंदी के साहित्यिक समाज में उनके होने के एहसास से तीव्रता या मंदी आती रही है। साहित्य में इतनी केंद्रीयता शायद अच्छी बात नहीं है ! लेकिन क्या इसका दोष भी नामवर सिंह को ही दिया जाना चाहिए ? संकोच के साथ भी सच कहा जाये तो, हिंदी साहित्य का पहला सतरा लिखने के साथ ही लेखक जिस व्यक्ति को सब से पहले वाद-विवाद-संवाद के स्तर पर संबोधित होता है, होना

चाहता है उस व्यक्ति का नाम नामवर सिंह है। अच्छी या बुरी बात बाद की चीज है , फिलहाल यह कि यह बात है, तो यों ही नहीं है ! इसके पीछे नामवर सिंह का सघन बौद्धिक व्यक्तित्व है। अटूट और अभेद्य तार्किकता है, व्यापक सामाजिक सरोकार है। मास्टर साहब के इस बेटे की आँख में सामाजिक संघर्ष की अंधेरी गहन गुफा से गुजरते हुए हिंदी समाज की कई-कई पीढ़ियों के जय-पराजय के स्वप्न के संश्लेष का छलछलाता आसव है। माथे पर शताब्दियों से सार्थक-निरर्थक शास्त्रार्थ में लगे नैय्यायिकों के बनारस का गाढ़ा पसीना है, ऐसा गाढ़ा पसीना जिसमें सिंदुर तिलकित भाल का गरूर गंगा के प्रवाह में बह रहे निर्माल्य की तरह गतकार्य का वस्तु-प्रसंग बनकर रह गया है और नई आभा के लिए अपने सांस्कृतिक विस्थापन को स्वीकारते हुए निस्तेज होने की नियति के समक्ष नतग्रीव है। जिसके मन में कबीर-तुलसी-भारतेंदु-रामचंद्र शुक्ल-प्रेमचंद-प्रसाद जैसे सांस्कृतिक व्यक्तित्वों के तन ही नहीं मन को भी रेणुमंडित करनेवाली जमीन से जुड़ाव का घनीभूत आशय है। जिसके चित्त में कभी शांत न होनेवाली मणिकर्णिका की लपट का तेजोमय अवसाद है तो रवींद्रनाथ ठाकुर की विश्व मानवतावदी विश्वदृष्टि से संपोषित व्योमकेश गुरू के गगनभेदी अट्टहास का अंतर्वास भी है।जिसकी प्रखरता में दुनिया को समझने और समझकर बदलने की मार्क्सवादी चेतना की वैकल्पिक सैद्धांतिकता के गतिशील भारतीय संदर्भ के गर्भगृह में प्रवेश की क्षमता भी है और साहस भी है। जिसके वाक-चातुर्य में साहस के अभाव में मर जानेवाले शब्द में अपने संस्पर्श से प्राण फूँक देने का पराक्रम भी है। जिसके निज-बोध में कभी न पिघलनेवाले ग्लेशियर की तरह का अहंबोध भी है तो श्नै:-श्नै:, पिघलते हुए हिमखंड से बनी स्रोतस्वीनी के गोमुख के सतत प्रवाह का सक्रिय धारोष्ण कवित्त-विवेक भी है। मनुष्य की जीवन स्थितियों-गतियों और एषणाओं के रंगों के संघात से अनुप्राणित अक्षरों को ही नहीं उसके पीछे फड़कते हुए दिमाग, धड़कते हुए दिल और दहकते हुए चेहरे के अर्थ-संदर्भों की 'तारतमिक' श्रेणी बनाकर उसे बुद्धि-गम्य और हृद्यंगम बनानेवाली भाषा के वर्णमाला की बारहखड़ी का हिंदी को अभ्यास करानेवाले शब्द-योगी नामवर सिंह के व्यक्तित्व के आंतरिक गठन की विनिर्मिति कुल मिलाकर अपने-आप में अद्‌भुत-अनुपम है। स्वाभाविक है कि दीवार और द्वार को पहचानने में थोड़ी-सी भी असावधानी 'भूलभुलैय्या' में डाल देती है। अपनी सृष्टि और दृष्टि से नामवर सिंह आलोचनात्मक आलोचक हैं। स्वाभाविक ही है कि उनकी हर स्थापना खुद आलोचना के प्रमुख विषयों

और चुनौतियों में शुमार रही है। जाहिर है कि, शायद इसीलिए, विवाद और नामवर सिंह एक दूसरे के पर्याय-से बनते हुए भी प्रतीत होते हैं।

आलोचना, साहित्य की आलोचना का प्रमुख काम क्या है ? कुल मिलाकर यह कि साहित्य के अर्थनिरूपण और निहितार्थ की संवेद्यता को ऐतिहासिक-सामाजिक अनुभवों की शृंखला से जोड़ते हुए परंपरा के प्रवाह के सातत्य में उसके मूल्य एवं स्थान निर्धारण के साथ-साथ नये के जुड़ने से पुराने की स्थिति में होनेवाले परिवर्त्तन को उद्घाटित करना। नये के जुड़ने से पुराने की स्थिति में होनेवाले परिवर्त्तन-परिस्थापन या कई बार उसके विसर्जन को ही 'परंपरा में पलीता लगाकर उड़ाने' की बात कही जाती है। परंपरा में पलीता लगाने का मकसद जीवंत परंपरा को नष्ट या भ्रष्ट करने का नहीं बल्कि जीवंत परंपरा को किसी भी प्रकार की कीर्तनिया चर्या से बाहर निकालते हुए जीवन-व्यवहार में उसकी कर्मकांड-मुक्त उपादेयता को बनाये रखने का होता है। इसलिए 'परंपरा में पलीता लगाना' कोई आसान काम नहीं है। सिर्फ टेक्स्ट के आधार पर यह काम नहीं हो सकता है। उसके लिए कॉनटेक्स्ट की तलाश करनी ही पड़ती है। इसी तलाश में जो है उससे बेहतर को हासिल करने के लिए आलोचक को अपने समय तक की मानवीय उपलब्धियों के सारे प्रयासों और आशयों से जूझना एवं जुड़ना पड़ता है। एक ही समाज और समय में कई हित-समूह एक साथ सक्रिय होते हैं। मानवीय उपलब्धियों के सारे प्रयास और आशय अनिवार्यत: परस्पर अविरोधी और प्रतिषेधी ही नहीं होते हैं इसलिए ये हित-समूह भी अनिवार्यत: परस्पर अविरोधी और प्रतिषेधी ही नहीं होते हैं । ये सारे प्रयास और आशय मिलकर ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट और कॉनटेक्स्ट बनाते हैं। इन प्रयासों और आशयों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाने के कारण इनके निरसन के वर्चस्ववादी रवैये के चलते या अन्य प्रयोजनों से इन में से कई के मिथ्या अभिज्ञान से कई समानांतर कॉनटेक्स्ट एक साथ प्रस्तावित हो जाते हैं। इन में से कुछ कॉनटेक्स्ट छद्म भी होते हैं। छद्मों को तार-तार करनेवाली आलोचना दृष्टि समर्थ आलोचकों के पास होती है।कुछ समानांतर कॉनटेक्स्ट, सामाजिक हित-समूहों के वैभिन्न्य के संदर्भों में समान रूप से वैध होते हैं। विभिन्न कॉनटेक्स्टों की इस समान वैधता से जीवंत सामाजिक जटिलताएँ विनिर्मित होती है। जब तक विभिन्न सामाजिक हित-समूहों के हित आपस में समेकित और समन्वित होकर एक हित-समूह नहीं बन जाते हैं तब तक इन सामाजिक जटिलताओं की

जीवंतता बची रहती है। सार्थक आलोचकों में वैध समानांतर कॉनटेक्सटों के प्रति पूजा का प्रमाद नहीं होता है परंतु आदर का औदार्य अवश्य होता है। सामाजिक जटिलताओं की जीवंतता के कारण इन विभिन्न कॉनटेक्स्टों के प्रति आदर भाव बनाये रखने के सांस्कृतिक-धैर्य के निर्माण के सातत्य को बनाये रखने की प्रक्रिया की पहचान करना भी साहित्य और संस्कृति के आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण काम होता है। यह काम प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता से मुक्त हुए बिना मुमकिन नहीं होता है। इन विभिन्न कॉनटेक्स्टों के प्रति आदर भाव से ही भारतीय समाज और संस्कृति का ऐकांतिक वैशिष्ट्य रचनेवाली बहुलात्मकता के प्रति समभाव बचा रह पाता है। समाज का प्रभु-वर्ग सिर्फ अपने कॉनटेक्स्ट को ही महत्त्वपूर्ण,अद्वितीय और वैध मानता है और परंपरा के संदर्भ में अद्वैतवादी आचरण करता है। सत्य को 'एक' और 'अविरोधी' बताता है। यह 'सत्य' प्रभु-वर्ग का अपना ही सत्य होता है, इसकी अविरोधिता को साबित करने और साबूत रखने के लिए प्रभु-वर्ग विभिन्न प्रकार से प्रयत्नशील रहता है। एक विवेकशील आलोचक समाज के प्रभु-वर्ग के कॉनटेक्स्ट के साथ 'क्वचित अन्योपि' कॉनटेक्स्टों की बहुवचनात्मक वैधता को भी समान रूप से स्वीकार करता है। कॉनटेक्स्ट की इसी बहुवचनात्मक वैधता की स्वीकृति परंपरा की बहुवचनात्मकता के होने को स्वीकार्य बनाती है। इसीलिए नामवर सिंह न सिर्फ परंपरा का प्रयोग बहुवचन में करते हैं, बल्कि इन परंपराओं के वैध होने की पहचान और उनको प्रतिष्ठित करने की भी गंभीर प्रचेष्टा करते हैं। ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट, कॉनटेक्स्ट और सब-कॉनटेक्स्ट की बात यदि स्वीकार्य हो तो इन पंरपराओं के प्रवाह के सातत्य में सिर्फ व्याघाती संबंध न होकर समानांतर और सहवर्तिता का संबंध भी स्वीकार्य होता है। इस ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट और कॉनटेक्स्ट को संवेदना के स्तर पर एक साथ समग्रत: हासिल कर लेना किसी साधारण आलोचक के लिए संभव नहीं होता है और शायद प्रयोज्य भी नहीं होता है। लेकिन नामवर सिंह जैसे असाधारण आलोचक के लिए यह अत्यधिक प्रयोज्य भी होता है और संभव भी होता है।

इसलिए, नामवर सिंह बहुत प्रारंभ से ही अपने आलोचना कर्म में टेक्स्ट के साथ समकक्ष कॉनटेक्स्ट को भी शामिल करते रहे हैं। स्वाभाविक ही है कि खुद नामवर सिंह को समझने में भी सिर्फ 'टेक्स्ट' बहुत मददगार नहीं हो सकता है, 'कॉनटेक्स्ट' को भी निर्भ्रांत रूप से 'टेक्स्ट' के साथ और समकक्ष रखकर ही विचार करना होगा। इस 'कॉनटेक्स्ट' को सही-सही पहचानना और स्थिर करना

आलोचना के लिए कठिन चुनौती हुआ करता है। इस कठिन चुनौती का सामना करने का बहुत अधिक अभ्यास और अनुभव हिंदी आलोचना को नहीं है।अतिशयोक्ति न माना जाये, सही बात तो यही है कि नामवर सिंह के होने के अर्थ को समग्रत: समझाना खुद नामवर सिंह के लिए भी बहुत आसान काम नहीं है। वैसे भी आलोचना कर्म जोखिम भरा होता है। इसलिए भगवान सिंह से इस मामले में सहमत होते हुए एक बार फिर कहा जा सकता है कि नामवर सिंह की आलोचना पद्धति पर बात करना जोखिम भरा काम है। और बात न करना उससे भी बड़ा जोखिम उठाना है। अभी यह सुखद संयोग बना हुआ है कि इस जोखिम उठाने में नामवर सिंह भी हमारी मदद करने के लिए उपलब्ध हैं। आरोप-प्रत्यारोप में समय गँवाये बिना हिंदी को इस सुखद संयोग से लाभ उठाना चाहिए। इस गोवर्द्धन को उठाने में कृष्ण की कनिष्ठा का सहारा तो चाहिए ही !

केदारनाथ सिंह से बातचीत 'आलोचना के जोखिम' 'पूर्वग्रह' के मई-अगस्त 1981 में छपी थी और समीक्षा ठाकुर के संकलन संपादन में निकली पुस्तक 'कहना न होगा' में शामिल है।इसके अंतिम अंश को देखने से नामवर सिंह के दुहरे संघर्ष का कुछ आभास मिल सकता है :

"केदारनाथ सिंह : आलोचक की हैसियत से आपका संघर्ष दो स्तरों पर चलता रहा है - प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध और स्वयं वामपंथी आलेचनाओं की अतिवादिताओं के विरुद्ध। कुछ लोगों को आपके इस दोहरे संघर्ष में एक अंतर्विरोध दीखायी पड़ता है। क्या आप इस संदर्भ में कुछ कहना चाहेंगे ?

नामवर सिंह : मेरे इस दुहरे संघर्ष में अंतर्विरोध उन्हें ही दिखायी पड़ता है जो साहित्य में या तो शुद्ध कलावादी हैं या फिर अतिवामपंथी। इस संबंध में मुक्तिबोध का जिक्र करूँ तो उनका भी संघर्ष इसी तरह दुहरा था। एक ओर नयी कविता के अंदर बढ़नेवाली जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति का विरोध और दूसरी ओर मार्क्सवादी आलोचना में प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता विरोध। मुझे ऐसा लगा है कि एक से लड़ने के लिए दूसरे से लड़ना जरूरी है। दरअसल यह एक ही संघर्ष के दो पहलू हैं। यह जरूर है कि हमेशा यह दुहरा संघर्ष साथ-साथ नहीं चल सकता। मसलन 'इतिहास और आलोचना' के लेखों में रूपवाद या कलावाद का विरोध ज्यादा है, क्योंकि उस दौर की ऐतिहासिक आवश्यकता यही थी। आगे चलकर यदि उसकी उपेक्षा की गयी और अति वामपंथी प्रवृत्ति की आलोचना की ओर विशेष ध्यान दिया गया तो स्पष्ट है मेरी नजर में साहित्यिक वातावरण बदल चुका था।

'आलोचना' का जो अंक मैंने प्रगतिशील लेखन पर विस्तृत परिचर्चा के साथ निकाला था उसमें मैंने इसी दृष्टि से अंधलोकवाद की कड़ी आलोचना की क्योंकि मुझे इधर की मार्क्सवादी आलोचना में यह प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखायी पड़ी। अब इधर महसूस कर रहा हूँ कि पिटा हुआ कलावाद हिंदी में फिर सिर उठा रहा है और नये तेवर के साथ सामने आ रहा है। निश्चय ही देर-सबेर इससे निपटना होगा।''

इस संवाद को ध्यान से पढ़ा जाये तो, दो बातें तत्काल समझ में आती हैं। पहली यह कि नामवर सिंह ऐतिहासिक जरूरत को न सिर्फ समझते हैं बल्कि उस जरूरत के प्रति सचेत रहते हुए ही अपने आलोचना कर्म का निर्वाह करते हैं, ऐसा इसलिए कि मार्क्सवादी आलोचना मुख्यत: ऐतिहासिक आलोचना है और दूसरी यह कि किसी भी स्तर पर तथा किसी भी रूप के अंधत्व तथा प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता से आलोचक को देर-सबेर निपटना ही पड़ता है। नामवर सिंह की बात समझने के लिए उस ऐतिहासिक जरूरत को समझना होता है, जिस ऐतिहासिक जरूरत के अंतर्गत नामवर सिंह स्टेंड लेते हैं। जो ऐतिहासिक जरूरत की उस समझ से सहमत होते हैं उनके लिए नामवर सिंह के स्टेंड से सहमत होना और उसका मूल्य समझना कठिन नहीं होता है। जो ऐतिहासिक जरूरत की उस समझ से सहमत नहीं होते हैं उनके लिए नामवर सिंह के स्टेंड से सहमत होना आसान नहीं होता है। असहमति रखनेवाले के सामने चुनौती होती है ऐतिहासिक जरूरत की नयी समझ विकसित एवं स्थापित करने की या फिर विवशता बौद्धिक आत्मसमर्पण की। नामवर सिंह अपनी स्थापनाओं को ले कर कहीं भी आत्ममुग्धता, विभ्रम या जड़ता के शिकार नहीं बनते हैं, बल्कि उनकी सीमाओं को भी अच्छी तरह जानते हैं। जाहिर है, उनके मन में समझदारी से संपन्न असहमति के लिए आदर भाव भी रहा है और प्रतीक्षा भाव भी। वे आजीवन विश्वविद्यालय से किसी-न-किसी रूप में जुड़े रहे हैं और देश के बौद्धिक विकास में विश्वविद्यालयों की भूमिका के महत्त्व से भी अवगत रहे हैं। यह अलग बात है कि वे विश्वविद्यालय की भूमिका से संतुष्ट नहीं रहे हैं। असंतोष के कई कारण रहे हैं जिन में कुछ प्रमुख कारण हैं, साहसहीन सहमति और ना-समझ असहमति। 1968 के उनके लेख 'विश्वविद्यालय में हिंदी' जिसे बाद में 'वाद विवाद संवाद' में संकलित किया गया है के कुछ मार्मिक अंश से गुजरने पर उनकी पीड़ा के इस प्रसंग को समझा जा सकता है। नामवर सिंह के शब्द हैं ''सांस्थानिक दृष्टि से हिंदी आलोचना के विकास में विश्वविद्यालयों के स्वतंत्र्योत्तर हिंदी विभागों का कोई योगदान नहीं है क्योंकि

सांस्थानिक रूप में वे ऐसा वातावरण दे सकने योग्य ही नहीं रहे। इसीलिए विश्वविद्यालयों में कुछ-एक समर्थ आचार्यों के रहते हुए भी उनके विचारों की कोई चिंतन-परंपरा न बन सकी। यह विडंबना नहीं तो क्या है कि जिस विश्वविद्यालय को रामचंद्र शुक्ल जैसा आचार्य प्राप्त हुआ, वह पिछले तीस वर्षों में शुक्लजी के विचारों के विकास का कोई ठोस प्रमाण न दे सका। विकास होता भी कैसे; जब हिंदी-विभाग को अपनी विशिष्ट चिंतन-परंपरा का न तो कोई एहसास हो, न बोध ! इसके अतिरिक्त गुरू की चिंतन-परंपरा का विकास उत्तरदायित्वपूर्ण असहमति का साहसी शिष्य ही कर सकता है, सतत सहमति का भीरू सेवक नहीं और स्थिति यह है कि अब के आचार्य सेवक चाहते हैं, शिष्य नहीं। इस वातावरण में जहाँ कोई कुमारिल ही नहीं, वहाँ कोई प्रभाकर क्या होगा ?'' नामवर सिंह को सन्नाटा बुनने की सहूलियत कभी नहीं थी। चुप्पा चिंतन उनकी प्रवृत्ति भी नहीं रही है। नामवर सिंह मानते हैं कि जब हम किसी और से बातचीत कर रहे होते हैं तो अपने अंदर भी कहीं-न-कहीं बातचीत का सिलसिला चलता रहता है। प्लेटो के 'डायलाग्स' के समकक्ष मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' के संदर्भ में इस बातचीत अर्थात आत्मसंलाप और चिंतन-प्रक्रिया की शर्त, प्रवृत्ति, महत्त्व और प्रविधि को नामवर सिंह न केवल जानते हैं बल्कि उसे बरतते भी हैं। सच तो यह है कि इस क्रम में उन्हें कई बार अपना कुमारिल भी बनना पड़ा है और प्रभाकर भी। साहसहीन सहमति और ना-समझ असहमति दोनों से एक साथ जूझते हुए नामवर सिंह को कई बार अपने वाद का विवाद भी खुद ही प्रस्तुत करना पड़ता रहा है और उससे बननेवाले संवाद के ऐतिहासिक सूत्रपात का दायित्व भी खुद ही सम्हालना पड़ा है। समकालीन इतिहास के सानुगतिक संदर्भ में इस तिहरी भूमिका के संतुलित निर्वाह को एक साथ सुनिश्चित करने के प्रयास के कारण उनके मुखर-चिंतन में कभी किसी संदर्भ का यह पक्ष मुखरित हुआ है तो कभी वह पक्ष। ऐतिहासिक दायित्व के निर्वहन में आकार पाये मुखर चिंतन की विशिष्टता और विवशता की मूल प्रकृति को अपनी सरल चिंता के बल पर ठीक से समझ नहीं सकने के कारण कई बार नामवर सिंह, साहित्य के हम जैसे साधारण पाठक को, समय-समय पर अपना स्टेंड बदलते हुए प्रतीत होते हैं। नामवर सिंह ऐसे चिंतक नहीं हैं जिनका हर कदम पर 'एक स्टेंड' हो, जिनके पास चुंबकीय दिशासूचक यंत्र से निर्धारित नाक की सीध में एक सरल रैखिक गंतव्य हो। पूर्व निर्धारित विचार-प्रकोष्ठ के श्रांत भवन में टिक रहना उनका मंतव्य नहीं है ! उन में परखे हुए को फिर-फिर परखते

रहने और अपने को तदनुसार सुधारते रहने का नैतिक साहस है। वे ऐतिहासिक जरूरत की अपनी समझ के अनुसार निरंतर एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे पर जाते हैं, कहना न होगा मोर्चा बदल जाने से दुश्मन नहीं बदल जता है! वे तो युग-युग धावित यात्री हैं। उनका जीवन में एक ही स्टेंड है; मार्क्सवाद की भारतीय समझ और उसमें उनकी गहरी और सर्जनात्मक आस्था। मार्क्सवाद के प्रति उनकी आस्था यांत्रिक नहीं है, बल्कि अधिक सच बात तो यह है कि वे इस यांत्रिकता को ताड़ने और तोड़ने का जोखिम उठाते हैँ। ऐसा करते हुए कई बार वे बहुतों को, खासकर जोखिम-भीरू जड़ मार्क्सवादियों को, मार्क्सवाद विरोधिता के कगार तक पहुँच जाने का खतरा उठाते हुए प्रतीत होते हैं। नामवर सिंह बार-बार स्मरण कराने की चेष्टा करते हैं कि मार्क्सवाद अपने विस्तार में विश्व दृष्टि होने के साथ ही राजनीतिक दर्शन भी है। इस 'विश्व दृष्टि' और 'राजनीतिक दर्शन' का क्या अर्थ है? इन दोनों के आपसी संबंध का स्वरूप और अंतर्वस्तु क्या और कैसा होता है? साथ ही मार्क्सवाद के 'विश्व दृष्टि' और 'राजनीतिक दर्शन' होने के अंतर्द्वंद्व की रचनात्मक समझ को दी हुई दुनिया के जिंदा रुख के सांस्कृतिक सवालों से कैसा सलूक करना चाहिए? इन सवालों पर गहराई से और बार-बार विवेचन की जरूरत है। गहराई से इसलिए कि इसके बिना न तो मार्क्सवाद का मूल चरित्र स्पष्ट हो सकेगा और न नामवर सिंह का मंतव्य और बार-बार इसलिए कि क्षिप्र गत्यात्मक ऐतिहासिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद के 'विश्व दृष्टि' और 'राजनीतिक दर्शन' का आपसी ताल-मेल एवं सहमेल बना रह सके। दी हुई दुनिया में इसके लिए समुचित सांस्कृतिक अवकाश (स्पेस) की स्वीकार्यता और वैधता विरचित की जा सके।

ज**न**-लेखकों के निर्माण की ऐतिहासिक जरूरत को समझते हुए 'साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका' के संदर्भ में नामवर सिंह सचेत हैं, तो यांत्रिकता और राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से भी बेखबर नहीं हैं । उन्हीं के शब्दों में: "जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है। क्या आज के अग्निवर्षी लेखक इस कठोर अग्निदीक्षा के लिए तैयार हैं ?" नामवर सिंह का संकेत साफ है, जन-लेखकों के निर्माण की सर्जनात्मकता के लिए राजनीतिक-दर्शन और लाइनों को अपनाते हुए भी

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जन-लेखक के लिए मार्क्सवाद की विश्व-दृष्टि ही अधिक मूल्यवान है। यह जानते और मानते हुए भी कि डॉ.एफ.आर. लीविस मार्क्सवाद विरोधी हैं नामवर सिंह गलतफहमी और अपने ऊपर होनेवाले आक्रमण की परवाह किये बिना अपने आलोचकीय व्यक्तित्व पर लीविस के आलोचकीय व्यक्तित्व में निहित साहित्य के प्रति गहरे नैतिक बोध से संपन्न एकनिष्ठ गंभीरता, ठोस कृतियों पर सतत एकाग्र दृष्टि, किसी प्रलोभन से भ्रष्ट न होनेवाली अविचल निष्ठा और चौतरफा विरोधी वातावरण के बीच निरंतर संघर्ष के प्रभाव को अकुंठ भाव से स्वीकार करते हैं। 'अपावन ठौर' पर पड़े 'कंचन' को जब कोई नहीं तजता है तब 'उत्तम विद्या' को 'नीच' से लेने के कवित्त-विवेक को बरतने में ही क्या बुराई है!

गहरे नैतिक बोध और विश्व दृष्टि के बल पर ही नामवर सिंह यांत्रिकता की तुलना में वैचारिक रूप से असहमत सर्जनात्मकता को समुचित महत्त्व प्रदान कर सकने का बौद्धिक साहस रखते हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों में सामने आती विचारधारा के संदर्भ में विष्णु खरे के सवाल पर नामवर सिंह अपनी ईमानदार छटपटाहट के साथ कहते हैं, 'विचारों का आप विरोध करिए, मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन एक कलाकार के महत्त्व को बिल्कुल न मानना ...सरासर धाँधली है।' इसी प्रसंग में आगे वे कहते हैं , 'निर्मल वर्मा का, उनकी जीवन दृष्टि का उनकी राजनीति का जिस रूप में विकास हो रहा है उसे मैं बहुत गलत समझता हूँ। बावजूद इसके उनका जो साहित्यिक सृजन है और उसका जो साहित्यिक महत्त्व है उससे मैं इनकार नहीं कर सकता। मैं अज्ञेय से असहमत हूँ, उनके विचारों को गलत मानता हूँ, इसका मतलब यह नहीं कि हमारे ही विचारों को माननेवाले किसी मामूली लेखक से उनको घटिया रचनाकार घोषित कर दूँ। साहित्यिक आलोचना के ऐसे निष्कर्षों के बारे में, खास तौर से मार्क्सवादी आलोचना के बारे में काफी गंभीरता और विस्तार से बात होनी चाहिए। लेखक की राजनीति और लेखक की जीवन दृष्टि और लेखक के साहित्य के बीच क्या रिश्ता होता है यह इतना बड़ा मुद्दा है, इस पर विस्तार से बात होनी चाहिए।किसी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन में राजनीतिक विचार हमेशा निर्णायक नहीं होता।' साहित्य में ही नहीं जीवन में भी महत्त्वपूर्ण निर्णय किसी एक ही आधार पर नहीं हुआ करते हैं। नामवर सिंह जब 'वाह

निर्मल वर्मा' या 'वाह अज्ञेय' कहते हैं तो उनकी पीड़ा महभारत में 'वाह कर्ण' कहनेवाले कृष्ण से कितनी मिलती-जुलती है ! 'वाह कर्ण' कहने से, कृष्ण कौरवों के तो नहीं हो गये!

नामवर सिंह साहित्य की आलोचना में जिस सिद्धांतिकी का उपयोग करते हैं, उपयोग के बाहर जाकर उसकी अलग से चर्चा करना नहीं चाहते हैं। सिद्धांत होते हैं और दिल की तरह सीने के अंदर होते हैं, उसे बार-बार सीना चीर कर दिखाना उन्हें ढोंग लगता है। यहाँ किसी अन्य प्रसंग में बांग्ला के वरिष्ठ कवि अमिताभ दासगुप्ता की कही वह बात याद आ रही है, जिसका आशय यह था कि शरीर में दिल जितना बायें होता है, विचार में वे उससे ज्यादा बायें हो नहीं सकते ! आखिर, भक्त हनुमान को भी अपनी भक्ति साबित करने के लिए सीना चीर कर दिखाने की विवशता एक ही बार झेलनी पड़ी थी ! नामवर सिंह अपने ढंग से बार-बार बताने की कोशिश करते हैं कि विचारधारा, सिद्धांत या सामाजिक यथार्थ के 'वादी' चित्रण से रचना महत्त्वपूर्ण नहीं बनती है। रचना महत्त्वपूर्ण बनती है, यथार्थ के चित्रण से उभरकर आनेवाली मानवीय संवेदना से। जीवन और रचना में यह मानवीय संवेदना अपना उभार पाती है 'विश्व दृष्टि' के अपनाव से।

कबीर और तुलसी दोनों अपने-अपने ढंग से लोक और वेद की बात बार-बार उठाते हैं।नामवर सिंह मध्यकालीन अंतर्विरोध को इस्लाम और हिंदु धर्म के विरोध की चालू समझ की ऐतिहासिक विसंगति को तथ्यों के आधार पर विस्थापित करते हुए उसे लोक और शास्त्र (वेद) के अंतर्विरोध के रूप में देखे जाने का बौद्धिक प्रस्ताव रखते हैं। तत्त्वभेदनी आलोचना दृष्टि के बिना यह संभव नहीं है। 'भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोक धर्म' में नामवर सिंह के शब्द हैं -- ''इस प्रकार मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।'' दृष्टि में इस बदलाव से उन बहुत सारी समस्याओं को समझने की नई दृष्टि हमें मिल जाती है जिन समस्याओं से जूझते हुए हमारा आज लहुलुहान हो रहा है। गुजरात के ही दंगों का विश्लेषण किया जाये तो क्या इसे हिंदु-

मुसलमान के बीच का ही मामला कहा जा सकता है! क्या इसके पीछे सक्रिय बाजारवाद, आंतरिक और बाहरी उपनिवेशवादी शक्तियों के गँठजोड़ की धमक भी साफ-साफ नहीं सुनी जा सकती है? और इस धमक का कूट-अर्थ खोलना किसी अति-कथन की गिरफ्त में फँसना माना जायेगा? बहरहाल, लोक के महत्त्व को इस वजन पर समझने के बावजूद वे लोकवाद के प्रति मुग्धावस्था में नहीं पहुँच जाते हैं क्योंकि यह नामवर सिंह ही हैं जो लोकवादिता के अंधत्व के प्रभाव से बचाने की भी काशिश करते हैं।

और अंत में, चलते-चलते 'इतिहास की शव साधना' का प्रसंग। डॉ. रामविलास शर्मा की बरसी पर आलोचना (अप्रैल-जून 2001) में प्रकाशित नामवर सिंह के लेख 'इतिहास की शव-साधना' के कारण कुछ लोगों का लगता है कि डॉ. रामविलास शर्मा की भौतिक अनुपस्थिति को अवसर में बदलते हुए नामवर सिंह अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिए उन पर खड़गहस्त हो रहे हैं। दूर की कौड़ी लानेवाले ऐसे आदरणीय लाल बुझक्कड़ों को कुछ भी समझाना आसान काम कहाँ है ? लेकिन फिर भी यहाँ कुछ प्रसंगों को याद कर लेना जरूरी है। नामवर सिंह के 'वाद विवाद संवाद' का पहला संस्करण 1989 में और दूसरा संस्करण 1991 में आया। ध्यान रहे, यह 'वाद विवाद संवाद' वाद-विवाद संवाद में अपना गुरू मानते हुए डॉ. रामविलास शर्मा को सादर अर्पित है। 'वाद विवाद संवाद' में एक लेख है '... केवल जलती मशाल'। यह लेख डॉ. रामविलास शर्मा के 10 अक्तूबर, 1982 को जीवन के संघर्षशील सत्तर शरद् पूरे करके इकहत्तरवें वर्ष में प्रवेश करने और साहित्य-साधना के सर्वोच्च शिखर पर उनके होने के अवसर पर लिखा गया था। इस लेख का एक मार्मिक अंश ''आज हिंदी में 'क्रांतिकारी' मार्क्सवादियों की कमी नहीं है। सभी रणबाँकुरे हैं, योद्धा का बाना बाँधे। और कमी भले हो, वाणी में न वीरता कम है, न क्रोध। लगता है क्रांति होने ही वाली है और होगी तो उन्हीं के नेतृत्व में। उधर जनता असंगठित है, वामपंथी दल एक-दूसरे को तोड़ने की कोशिश में स्वयं अप्रासंगिक होने लगे हैं, अवसरवादी संसदीय राजनीति का बोलबाला है, व्यवस्था का ढाँचा अपने ही पापों के भार से चरमरा उठा है, फासिस्ट शक्तियाँ जहाँ-तहाँ फिर से सिर उठाने का मौका पा गई हैं, परमाणु युद्ध की काली छाया अब झुकी कि तब झुकी, अप्रतिबद्ध बुद्धिजीवी कभी

अपनी गुहा की ओर झाँकते हैं, कभी पश्चिम की ओर -- हमेशा की तरह ; ये सभी मिलकर अंधकार को और गाढ़ा कर रहे हैं।

इस वातावरण में 'भारत में अँग्रेजी राज और मार्क्सवाद' का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है। अपने सत्तरवें जन्म दिवस पर डॉ. रामविलास शर्मा का हिंदी को प्रत्याशित उपहार।

'राम की शक्तिपूजा' का वह बिंब अपने समूचे अर्थगौरव के साथ मूर्तिमान हो रहा है : ...भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती मशाल ! "

ध्यान में 1982 का पूरा परिप्रेक्ष्य, जिसका संकेत नामवर सिंह ने किया है, होना चाहिए। 1977 में 'समग्र क्रांति' के नारे और स्वप्न के साथ आई जनता पार्टी की सरकार 1982 के पहले ही जा चुकी थी और श्रीमती इंदिरा गाँधी की सरकार 'लोकतांत्रिक मार्यादा' के साथ पुन: सत्तासीन थी। काँग्रेस परिवारवाद के ताजा रुझान के साथ लगभग निजी स्वामित्ववाले प्रतिष्ठान में तेजी से बदल रही थी। पूरा विपक्ष निस्तेज बनकर घायल जटायु की तरह कराह रहा था। फासिस्ट शक्तियों के दिन फिर रहे थे। शशधर-तारा विहीन सांस्कृतिक आकाश और जनजीवन की कठिन भूमि पर पसरे उस नैश अंधकार में लक्ष्मण की दृष्टि से ही रामविलास शर्मा की ओर ताकते हुए नामवर सिंह को प्रतीत हुआ होगा कि 'राम की शक्तिपूजा' का वह बिंब अपने समूचे अर्थगौरव के साथ मूर्तिमान हो रहा है : ...भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती मशाल!

1984 में श्रीमती इंदिरा गाँधी की हत्या हुई। 'बड़े वृक्ष' के गिरने पर 'जमीन के हिलने' के तर्क के साथ सत्ता की नाक के नीचे दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र की राजधानी में जो सिक्ख-संहार शुरू हुआ देखते-ही-देखते पूरे देश में जहाँ-तहाँ फैल गया। ऐसी नृशंसता के घटित होने के बावजूद सत्ताधारी काँग्रेस के प्रति सहानुभति की बे-रोक लहर चली तो इसके पीछे एक कारण विपक्ष की सकारात्मक उपस्थिति का अभाव भी था और वह नैश अंधकार भी था। रिकॉर्ड तोड़ भारी बहुमत से राजीव गाँधी, जिनका सक्रिय राजनीतिक अनुभव शून्य के बराबर था, प्रधान मंत्री बन गये। इस युवा प्रधान मंत्री की आँख में उपलब्धियों के स्तर पर सदियों पीछे चल रही अस्सी प्रतिशत भारतीय आबादी के जीवन-यथार्थ का कोई दृश्य ही नहीं था। जीवन-यथार्थ से शून्य उन आँखों की शून्यता को

इक्कीसवीं सदी के उतावले सपनों से भरने की कोशिश में सभासद लगे थे। मनुष्य की बनाई दुनिया, 'पेरिस्त्रोइका' और 'ग्लास्तोनोस्त' का जप करते हुए एक ध्रुवीय बनने की ओर तेजी से बढ़ रही थी। 1982 से 1986 तक आते-आते राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में बहुत तेजी से बदलाव आ रहा था।यह बदलाव 'जलती मशाल' में भी आ रहा था। अंधकार मशाल को बदल रहा था! ऐसे कठिन समय में यह जलती मशाल 'शव-साधक तांत्रिक' की नंगी आँख की ज्वाला में बदल रही थी! सर्वोच्च शिखर के बाद ढलान ही तो बचता है! अपनी साहित्य-साधना के सर्वोच्च शिखर से डॉ. रामविलास शर्मा का चिंतन घाटी की गहरी और खतरनाक ढलान की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होने लगा, नामवर सिंह को।

'वाद विवाद संवाद' में एक और लेख शामिल है : 'साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका'। यह लेख 1986 का है और 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्वर्ण जयंती के ठीक पहले प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' को विशेषत: संदर्भित कर लिखा गया है। इसका अंतिम अंश ध्यातव्य है : ''विडंबना यह है कि जिस प्रगतिशील धारा से उन्हें (डॉ.रामविलास शर्मा को) परंपरा को देखने की दृष्टि मिली है उसी का आज वे निषेध कर रहे हैं। आज की प्रगति का तिरस्कार और कल की परंपरा की जयजयकार परंपरा-प्रेम नहीं, परंपरा पूजा है। परंपरा की रक्षा के नाम पर यह नया परंपरावाद है। वर्तमान प्रगति के प्रयत्नों से नि:संग होने पर ही ऐसे परंपरावाद (का) उदय होता है। आज प्रगतिशील शिविर में भी परंपरावाद का नया उभार स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है -- साहित्य में भी और राजनीति में भी। इतिहास बनानेवाले इतिहास लिखने में व्यस्त हैं। दृष्टि आगे की ओर नहीं, पीछे की ओर है। अतीत की रक्षा में ही भविष्य की आशा दीखती है। भविष्य इतना अनिश्चित हो चला है कि आस्था टिकाने के लिए अतीत का ही आधार रह गया है। लोग भूलते जा रहे हैं कि परंपरा की रक्षा प्रगति से ही संभव है। क्या यह आज वामपंथ के गहरे संकट का संकेत नहीं (है) ?

किसी समय डॉ. रामविलास शर्मा ने हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'शव-साधना' पर टिप्पणी की थी कि इस शव-साधना में शव के स्थान पर साधक के ही मुँह के उलट जाने का खतरा है। वह वाक्य आज स्वयं डॉ. शर्मा के सामने पूरी विडंबना के साथ प्रश्न बनकर खड़ा है। इतिहास भी कितना क्रूर है!

प्रगतिशील आंदोलन में अपनी भूमिका को स्पष्ट करने के लिए डॉ. शर्मा ने इतना लिखा, लेकिन क्या कभी उनके मन में यह सवाल भी उठा है कि स्वयं उनके निर्माण में प्रगतिशील आंदोलन की क्या भूमिका है ?''

1986 तक आते-आते मि. क्लीन के चारों ओर भ्रष्टाचार के अरोपों का बना घेरा कसता ही जा रहा था। प्रचंड बहुमत के शिखर से राजीव गाँधी के पतन की गाथा को यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं है, जरूरत है यह देखने की, कि इस बार भी विपक्ष कोई कारगर विकल्प नहीं दे सका। राजीव गाँधी की हत्या से उपजी राजनीतिक शून्यता को भ्रष्टाचार के आरोपों के दलदल में फँसी नरसिंहराव की सरकार भर पाने में अंतत: कामयाब नहीं हो सकी। इस बीच 'हिंदुत्व' की 'राष्ट्रीय भावनाओं के प्रकटीकरण' के फलने-फूलने का भरपूर अवसर मिला।1986 के बाद अँधेरा और गाढ़ा ही होता गया। विनोदकुमार शुक्ल को याद करें तो इस बार जो अँधेरा हुआ वह आठवीं शताब्दी के अँधेरे की तरह का है। वैश्विक नई आर्थिक नीति के नाम पर देश की अर्थ-व्यवस्था एक नये संकट की ओर बढ़ रही थी तो 06 दिसंबर 1992 को अंतत: तथाकथित बाबरी मस्जिद ढा दी जाने से संपूर्ण राष्ट्र एक गहरे सांस्कृतिक संकट में भी फँसते जाने की ओर बढ़ने लग गया।

और अब, डॉ. रामविलास शर्मा की बरसी पर आलोचना (अप्रैल-जून 2001) में प्रकाशित नामवर सिंह के लेख 'इहिास की शव-साधना' से कुछ अंश : ''हिंदी प्रदेश में एक 'शक्तिशाली नवजागरण' की चिंता रामविलासजी को पहले से ही रही है। 6 दिसंबर 1992 को रामलला के लाड़ले कारसेवकों के हाथों तथाकथित बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद स्वभावत: यह चिंता और प्रबल हो गई। भारतीय नवजागरण और यूरोप नामक ग्रंथ में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है : 'इस समय (1993) के

उत्तरार्द्ध में, देश का बहुत बड़ा भाग पीछे हट रहा है, विशेष रूप से हिंदी प्रदेश में एक शक्तिशाली नवजागरण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। (पृ.327)'' और 'इहिास की शव-साधना' का अंतिम अंश विशेष रूप से ध्यातव्य है : '''इतिहास की शव-साधना' मेरे लिए एक तरह से आत्म-समीक्षा भी है क्योंकि राहुलजी और द्विवेदीजी की ही तरह रामविलासजी भी मेरे अंदर जीवंत और जाग्रत हैं। यह आत्म-समीक्षा आत्मसंघर्ष भी है। जिसे कुछ लेखकों ने अपने 'अंदर का दानव' कहा था। जाने क्यों मुझे इसी क्षण मुक्तिबोध का 'ब्रह्मराक्षस' याद आ रहा है और उसके सामने इस वैदिक ऋचा के साथ सिर झुकाता हूँ - नम: ऋषिभ्य: पूर्वजेभ्य:। (ऋक् .10/10/15)
'... केवल जलती मशाल' से 'ब्रह्मराक्षस' तक कि यह यात्रा कितनी बड़ी त्रासदी है, इस पर बहुत ठंढ़े दिमाग से सोचने की जरूरत है। आरोप-प्रत्यारोप से बाहर निकलकर इस त्रासदी पर सोचने की फुरसत किसे है ! कैसी ट्रेजडी है नीच ! !

डॉ. रामविलास शर्मा पर केंद्रित 'आलोचना' में प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा के संदर्भ में नामवर सिंह के लेख 'इहिास की शव-साधना' से बहुत सारे लोग बहुत व्यथित हुए हैं। खुद नामवर सिंह ने भी व्यथित होकर ही वह लेख लिखा है। ध्यान रहे यह साधारण लेख नहीं है : आत्म-समीक्षा भी है और आत्मसंघर्ष भी। हम जैसे लोगों की व्यथा यह है कि उस लेख के मुद्दों पर चर्चा न होकर चर्चा का मुद्दा रामविलास शर्मा और नामवर सिंह बनकर रह गये हैं।उस पूरे लेख में नामवर सिंह जिन मुद्दों को बार-बार उठाने की कोशिश करते हैं, उसके कॉनटेक्स्ट को समझे बिना उस पर बात ही नहीं की जा सकती है। नामवर सिंह इस बात को ध्यान में रखते हुए ही बार-बार कॉनटेक्स्ट भी साफ करते चलते हैं। जो लोग कॉनटेक्स्ट को समझते हैं वे उनके तेवर की बात करते हैं। इस लेख का महत्त्व गर्दो-गुबार के थम्हने पर समझ में आयेगा। उम्मीद की जानी चाहिए कि गर्दो-गुबार थम्हेगा और बात आगे बढ़ेगी । उपरोक्त प्रसंग को ध्यान से देखें तो मुख्य सवाल यह है कि क्या आत्म-समीक्षा और आत्मसंघर्ष के रूप में आया नामवर सिंह का यह लेख अपने आपको प्रगतिशील कहलाने के आग्रही लोगों को आत्म-समीक्षा और आत्मसंघर्ष के लिए जरा भी अनुप्रेरित नहीं कर पायेगा, जरा भी नहीं? लेकिन शायद उससे भी बड़ा सवाल इस समय प्रगतिशील कहलाने के आग्रही लोगों के बीच आत्मान्वेषण का है। हम

जैसे लोगों की परंपरा तो रामविलास शर्मा भी हैं और नामवर सिंह भी और वे भी जो इस कठिन समय में भी आत्म-समीक्षा और आत्मसंघर्ष के किसी भी संदर्भ से परम मुक्त हैं - को बड़ छोट कहत अपराधू।

नामवर सिंह को पढ़ना हिंदी की विचार यात्रा की तरह होता है। नामवर सिंह को पढ़ते हुए उनके साथ चलना होता है। एक जगह खड़े रहकर नामवर सिंह को सही तरीके से पढ़ा ही नहीं जा सकता है। नामवर सिंह के पाठ की आंतरिक गत्याम्कता अपने पाठक को अनिवार्यतः गतिशील बनाती है। इस गतिशीलता का पाठकीय वरण नामवर सिंह के पाठ को मनोरम बनाता है, वहीं इस गतिशीलता के वरण से इंकार पाठकों को इस या उस तरह की गफलत में डाल देता है। इस अर्थ में नामवर सिंह का पाठ मानसिक जड़ता को चुपके से तोड़कर अपने पाठक के मानस का हिस्सा बन जाता है। यह हिस्सा बन जाना जिन्हें परेशान करता है नामवर सिंह का पाठ उनके लिए चुनौती बन जाता है और जो इस हिस्सा बन जने को सहजता से स्वीकार कर लेते हैं वे नामवर सिंह के पाठक की सहज सहभागितामूलक संप्रेषणीयता के आनंद का भागीदार बन पाते हैं।

वस्तुत: आलोचना का काम साहित्य और संस्कृति में सक्रिय अंधबिंदुओं की पहचान और साहित्य और संस्कृति के उपादानों के सहारे ही अंधबिंदुओं को निष्क्रिय कर दृष्टिबिंदुओं को सक्रिय बनाने का है। बहैसियत आलोचक नामवर सिंह ने इस काम को बड़ी ही तत्परता से किया है और करने का सलीका हमें दिया है। यह अलग बात है कि अंधकार बढ़ता ही जा रहा है और हमारे दुख का कोई ओर-छोर नजर नहीं आ रहा है। हम कब स्वीकार पायेंगे कि अंधेरे में फैलती जा रही पशुओं की आँख की चमक रोशनी की खबर नहीं होती है!